ज़िन्दगी या ज़िन्दगी का फ़लसफ़ा

ज़िन्दगी के बारे में सोचा तो बहुत गया है, पर इतनी मामूली सी बात पर शायद ही ध्यान दिया गया हो कि ज़िन्दा होने के 'जन्म' लेना पड़ता है, और ज़िन्दा रहने के लिये बहुत कुछ और करना पड़ता है। यही नहीं, ज़िन्दगी के साथ मरने की बात भी जुड़ी हुई है जिसके बगैर ज़िन्दगी के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता।

यही नहीं, ज़िन्दा रहने का मतलब, सिर्फ ज़िन्दा रहना नहीं होता, उसके साथ बच्चा होना, बड़ा होना, जवान होना, बूढा होना, ये सब अनिवार्यत: जुड़े हैं। यही नहीं, आप स्त्री हैं या पुरुष, लड़का हैं या लड़की, ये सब भी उसके साथ इस तरह मिला है कि इसको अलग करके सोचा ही नहीं जा सकता। आदमी दुनिया को अपनी नज़र से देखता है और औरत अपनी नज़र से।

अगर, हम इन सब मामूली बातों पर ज़रा भी ध्यान दें, तो लगेगा कि जो कुछ भी आज ज़िन्दगी पर दार्शनिक चिन्तन या Lebens philosophie के नाम से चलता है, वह कितना खोखला है। हाँ, एक बात ज़रूर है, पुराने लोगों में जिनमें अरस्तू का नाम भी शामिल है और नये नामों से डेकार्ट का नाम भी लिया जा सकता है, उन्होंने यह बात ज़रूर उठाई थी कि जिस आदमी की बात हम करते हैं वह कौन है? वह बच्चा तो हो नहीं सकता, उसे कम से कम 18 या 20 वर्ष का तो मानना पड़ेगा। फिर उसे आदमी मानें या औरत, या दोनों। सवाल यह था कि आदमी को 'आदमी' कहने का मतलब क्या है? और वह मतलब समझ में आ जाये तो हम किस उम्र के और लिंग के आदमी को पूरा आदमी कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, आदमी का वह गुण क्या है जो उसे 'आदमी' बनाता है। अरस्तू ने उसको बुद्धि या Reason का नाम दिया था। भारतीय चिन्ताकें ने 'धर्म चेतना' का नाम दिया एक दूसरे स्तर पर उसको ये कहकर बताने की कोशिश की थी कि वह राष्ट्र या समाज की सदस्यता में भागीदार होने का ऐसा गुण है जो व्यक्ति ज़िम्मेदारी के साथ निभा सकता है और निभाता है।

दूसरी तरफ यह भी कहने की कोशिश की गई है कि आदमी वास्तव में वही है जो अपनी आत्म चेतना में उससे संबंधित हो जो वास्तव में सत् है और जो सब देशकाल में एक समान और एक रस होकर या रहकर सत् बनाता रहता है।

पर चाहे अरस्तू हो या कोई और, हिन्दुस्तान में हो या बाहर, किसी ने भी यह नहीं सोचा कि ज़िन्दगी (आदमी की) क्या है। अगर आदमी पैदा होता है, और उसे पालना-पोसना, बड़ा करना, और फिर पढ़ाना-लिखाना, शादी-ब्याह करना ज़रूरी है, तो चाहे Reason की बात करें या धर्म की, या चाहे अध्यात्म की, इतना तो सबको करना ही पड़ता है। अगर हम यह भूल जाते हैं, तो फिर एक परिभाषा मात्र से करीब-करीब सभी आदमियों को 'आदमी' होने से वंचित कर देते हैं। यह कोई सिर्फ़ कल्पना नहीं है। धर्मशास्त्रों के अनुसार, और अरस्तू के अनुसार भी स्त्रियाँ पूर्ण रूप से 'मनुष्य' नहीं कही जा सकतीं। यही बात शूद्रों के बारे में सच थी। और उनके बारे में भी जो अन्त्यज थे, वर्ण-व्यवस्था से बाहर थे। अरस्तू के लिये तो जो 'गुलाम' होते थे, वे तो पूर्ण रूप से मनुष्य माने ही नहीं जा सकते थे।

पुराने लोगों की बात छोड़ भी दें, तो हाल ही में हिटलर के अनुसार यहूदी 'आदमी' ही नहीं थे, और मार्क्स की कसम खाने वालों के लिये, वह सब मनुष्य कहलाने के अधिकारी ही नहीं थे जो उनकी क्रांति के रास्ते में रोड़े बनकर खड़े होते थे। यही बात उन लोगों की भी है जो अपने को इन दोनों से अलग मानते हैं, लेकिन अपने दिल में उन सबको आधा या चौथाई आदमी मानते हैं जो एशिया या अफ्रीका में बसते हैं।

ये दूसरी बात है कि आदमी जहाँ कहीं है वहाँ उसे करना वही सब कुछ पड़ता है जो 'आदमी' होने के नाते उसे ज़िन्दा रहने के लिये ज़रूरी है पर आदमी का ज़िन्दा रहना जानवर की तरह ज़िन्दा रहना नही है। फिर, सवाल यह है कि आदमी के ज़िन्दा रहने में और जानवर के ज़िन्दा रहने में क्या फ़र्क है। अगर हम इस 'फ़र्क' को थोड़ा भी पकड़ सकेंगे तो कम से कम विचार की उस बेईमानी से बच सकेंगे जो करीब-करीब मनुष्य जाति को 'आदमी' मानने से इंकार करती है।

आदमी को ज़िन्दा रहने के लिये वह सब कुछ करना पड़ता है जिसको हर एक आदमी जानता है और जो आम ज़ुबान में 'चूल्हा-चौका', 'झाड़ू-पौंछा' के नाम से जाना जाता है। आम तौर पर औरतें ही यह काम करती हैं। खाना पकाना हो या रसोई के और काम, घर की सफ़ाई हो या हर चीज़ को ठीक-ठाक रखना, औरतें ही करती हैं। ये काम हर रोज़, और हर दिन में भी कई बार करना पड़ता है। खाना कितनी बार खाया व पकाया जाता है और उसके साथ कितनी बार बर्तन धोने की नौबत आती है, यह आदमी शायद ही कभी सोचता है। हाँ, इस पर प्रसिद्ध फांसीसी दार्शनिक चिन्तक स्त्री सिमोन डे बोव्वार ने अपनी पुस्तक The Second Sex में विस्तार से लिखा है। लेकिन उसने भी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि 'चूल्हा-चौका' हो या 'झाड़ू-पौंछा' उसके लिये हज़ारों आदमियों को दिन-रात बराबर काम करना पड़ता है, और वह सब तभी घर में आ सकता है जिसके बगैर न खाना पक सकता है न मकान बन सकता है। और ये काम आदमी ही ज़्यादातर करते हैं औरतें नहीं। हाँ। बहुत सारा काम आदमी-औरत मिलकर करते हैं और

उसे तरह के काम में ही दोनों को यह पता चलता है, कि ज़िन्दगी का काम मिलकर ही चलाया जा कसता है, अलग-अलग नहीं। धोबी हो या रंगरेज, जुलाहा हो, या दर्ज़ी, बहुत सारे काम स्त्री-पुरुष मिलकर ही करते हैं। और इसलिये उनके यहाँ जब किसी एक का निधन हो जाता है तो दूसरे की ज़रूरत काम करने के लिये उतनी ही होती है कि वहाँ दूसरी शादी करना स्वाभाविक माना जाता है।

इस सब को अधिक विस्तार दिया जा सकता है, पर समझने की बात यह है कि ये जो सब ज़िन्दगी के लिये ज़रूरी है उस पर जिन लोगों ने ज़िन्दगी पर सोचने का बीड़ा उठाया है, उन्होंने बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। इसलिये शायद न शुद्र की ओर ध्यान दिया न वैश्य की ओर। 'सोचने वालों' ने सिर्फ़ या तो 'ब्राह्मण' की ओर ध्यान दिया या 'क्षत्रिय' की ओर। ब्राह्मण का काम पढ़ना-पढ़ाना समझा जाता था और क्षत्रिय का काम रक्षा करना, प्रजा-पालन करना, प्रजा को दूसरों से बचाना और इसके लिये युद्ध के लिये सतत् तत्पर रहना। यही नहीं, अराजकता को रोकने के लिये दण्ड़ की व्यवस्था करना, जिसके दो पक्ष थे, एक जो सेना में साफ़ नज़र आता था और दूसरा उसमें जिसको आज 'पुलिस' कहते हैं।

ब्राह्मण का काम पढ़ना-पढ़ाना था, पर इस पढ़ने-पढ़ाने का मतलब वास्तव में संस्कृति का संरक्षण व संवर्धन था। आदमी का 'आदमी' होना, एक दूसरे पर ही निर्भर नहीं, बल्कि उन पूर्वजों पर भी है जिनसे उसको वह सब मिला है जिसको आधार बनाकर वह अपनी ज़िन्दगी जीताहै और उसमें थोड़ा-बहुत तब्दील करके आगे बढ़ाने की कोशिश करता है। ब्राह्मण के यही लक्षण हैं, और उसके ये दोनों पक्ष हैं और इन्हीं के सहारे सब कुछ को बचा रखने की कोशिश होती है। उसमें कुछ इज़ाफ़ा हो सके तो करे, वरना बचाकर तो रखे ही।

जिन चार लोगों की बात हमने की है उन्हें आम तौर पर 'वर्ण' कहा जाता है और यह समझा जाता है कि ये सिर्फ हिन्दुस्तान में होते थे। इससे बड़ी गलती शायद ही कोई और हो। किसी भी राज्य या समाज या संस्कृति और सभ्यता में इन चारों का पाया जाना अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना आदमी अपनी ज़िन्दगी जी ही नहीं सकता, और इसी में उसका वह फ़र्क हैजो उसे जानवरों से अलग करता है। पर जैसे-जैसे समाज और संस्कृति बदलते हैं वैसे-वैसे इनके जैसे ही और बहुत सारे काम आदमी को ज़िन्दा रहने के लिय करने पड़ते हैं और एक अजीब तरह से उसकी एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ती जाती है। यह बात आज यहाँ तक बढ़ गई है कि आदमी को 'रहने' तक के लिये जिन आम चीज़ों की ज़रूरत है उसके लिये भी उसको पता नहीं किन-किन मुलकों के आदमियों का सहारा लेना पड़ता है। बिजली कहाँ से आती है, पानी कहाँ से आता है, पेट्रोल कहाँ से आता है, इसका पता बहुत कम लोगों को है। पर इसके बिना जीना दूभर होता है, इतना ही नहीं आज दूध घर की गाय से तो आता नहीं और दूसरी रोज़मर्रा की चीज़े कहाँ

से आती हैं। किसके हाथ बेची जाती हैं, इसका लेखा-जोखा कोई करे तो परेशान हुये बगैर नहीं रहेगा।

पर यह बात सबके के लिये सच है फिर चाह वह कवि हो या दार्शनिक, या कुछ और। लेकिन अगर ऐसा है तो इसको ज़िन्दगी पर सोचने का अनिवार्य अंग समझा जाना चाहिये। इन सबको विचार में लिये बगैर मनुष्य के बारे में सोचना बिल्कुल बेमानी, निरर्थक, फिज़ूल है।

पर इससे भी ज़्यादा परेशानी की बात तो वे लोग हैं जो समाज, संस्कृति और राज्य सबको ही तिलांजलि देकर जीवन व्यतीत करने में जीवन को सार्थक समझते हैं। यह भारत की परम्परा में साधु-संत, सन्यासी के नाम से जाने जाते हैं। बौद्ध और जैन श्रमण-परम्परायें इनके मूल में थी, ऐसा कहा जाता है। वैसे तो उपनिषदों में इनकी झलक पायी जाती है पर छाया की तरह से। वह उसका प्रधान अंग नहीं थी, श्रमण परम्पराओं में तो वह 'देसी' और 'मार्गी' दोनों का रूप ले चुकी थी। उनकी मान्यता ही यह थी कि जब तक संसार को छोड़ा नहीं जाये तब तक सत्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जीवन का परम पुरुषार्थ इसी में था, और बुद्ध और महावीर इसके प्रतीक थे। इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ही का उदाहरण लें, उनकी दो स्त्रियाँ थीं पर फिर भी वे सच्चे ज्ञानी ही नहीं बृहदारण्यक के अनुसार ब्रह्मनिष्ठ भी थे। यह ठीक है कि राम वन में गये थे, राम ने राज्य को छोड़ा था, पर वे सीता और लक्ष्मण को साथ ले कर गये थे और गये तो थे, पर पिता के वचन का पालन करने के लिये और वहाँ भी उन्होंने मित्रता भी की और युद्ध भी किया। कृष्ण के बारे में तो ऐसी कोई कहानी है ही नहीं। हाँ, उन्होंने वृन्दावन ज़रूर छोड़ा और छोड़कर कभी मुड़कर देखा नहीं। कहने का अर्थ यह है कि भारतीय परम्परा में बुद्ध और महावीर के बताये हुए रास्ते ने जो समाज, संस्कृति और राज्य के लिये समस्या उत्पन्न की, उस पर विचार ही नहीं गया है। राम और कृष्ण की परम्पराओं ने इनका कितना गतिरोध किया, यह कहना मुश्किल है। परन्तु याज्ञवल्क्य की परम्परा तो लगभग नष्ट सी ही हो गई, क्योंकि शंकर से पहले भी और शंकर के बाद भी सन्यास आश्रम की स्थापना हो चुकी थी, और वह इतनी सर्वस्वीकृत हो गयी थी कि हरिभद्र सूरी के अनुसार करीब-करीब सब दार्शनिक आचार्य उसी प्रकार जीवन व्यतीत करते थे जो साधु सन्यासियों के लिये ठीक समझा जाता था। कुछ लोग स्त्रियों के साथ ज़रूर रहते थे पर उनसे वो ही अधिक अच्छे समझे जाते थे जो उनके बिना अर्थात् अकेले रहते थे।

हिन्दुस्तान की यह समस्या शायद उसकी अपनी ही है, क्योंकि न ग्रीस में, न चीन में ऐसा मिलता है। वहाँ भी साधु लोग होते थे, पर वह समाज, राज्य और संसार को छोड़ते दिखाई नहीं देते थे। चीन में भी ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। यही नहीं, ग्रीस और चीन, दोनों में राज्य के प्रति उत्तरदायित्व और कर्तव्यनिष्ठा मनुष्य का परम पुरुषार्थ और परम धर्म माना जाता था। ईसाई मत में राज्य और धर्म में

इतनी 'एकता' थी कि दोनों एक दूसरे से आंतरिक रूप से सम्बद्ध दिखाई देते हैं जो बाद में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, फिर चाहे वो रोम में हो या, कुस्तुनतुनिया में।

पर एक बात उन सब में समान थी, और वह यह कि जीवन-यात्रा के लिये जो भी ज़रूरी था और जो लोग उसको बनाने-जुटाने में दिन-रात लगे रहते थे, उनके काम की न कोई इज़्ज़त थी, न उसकी। इज़्ज़त उन्हीं लोगों की थी और उस काम की थी जिसका ज़िन्दा रहने से कोई सीधा सरोकार न था और इसका मतलब यह था कि करीब-करीब 90 फ़ीसदी लोग जिनके बगैर उन 10 फ़ीसदी लोगों की ज़िन्दगी चल नहीं सकती थी, उनको 'आदमी' समझा नहीं जाता था।

यह बात पुरानी संस्कृति के बारे में ही सच हो, ऐसा नहीं है। आज भी कुछ-कुछ हालत वैसी ही है। यह ठीक है कि मार्क्स ने अपने विचार में जो हाथ से काम करते हैं या मज़दूरी करते हैं उनको ऐतिहासिक प्रधानता दी थी। और माओ ने तो दिमागी काम करने वालों के लिये यह भी अनिवार्य बताया कि वे गाँव में जाकर किसान मज़दूर के साथ हाथ बँटायें और काम करें। पर इसका नतीजा कम से कम वैसा नहीं हुआ जैसी उम्मीद की जाती थी, क्योंकि मार्क्स हो या माओ दोनों एक तरह से, बुद्धिजीवी हो थे। माओ ने तो खुद लड़ाईयाँ भी लड़ी थीं, और भी बहुत से काम किये थे। पर उसने मेहनत-मज़दूरी की बात को उसी तरह से गलत समझा जिस तरह मार्क्स ने। बात न किसान/खेतिहर की है न फैक्ट्री के मज़दूर की। बात उस काम की है जो हर घर में, चाहे वो गाँव में हो या शहर में, चौबीस घंटे चलता रहता है, हर रोज़, हर दिन, हर महीने, हर साल। जब तक इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जायेगा तब तक आदमी की ज़िन्दगी के बारे में सोचना सिर्फ़ हवाई किला बनाने जैसा होगा। और आज तक ऐसा लगता है कि आदमी ने ऐसा ही किया है। बुद्ध हो या महावीर, शंकर हो या रामानुज, ईसा हो या मुहम्मद, मार्क्स हो या माओ, सब इस संदर्भ में एक जैसे ही लगते हैं। आज ज़रूरत इस बात की है कि हम इस हज़ारों साल की कमी को पूरा करें और ज़िन्दगी को ज़िन्दगी के रूप में जीने की कोशिश करें, उसमें आत्मीयता बढ़ायें जिससे ऐसी भावना जन्म ले जो ज़िन्दा रहने के लिये ज़रूरी काम को अहमियत दे। हम कवि और कलाकार को, विचारक और वैज्ञानिक को, राज्य चलाने वालों को और धन कमाने वालों को इज़्ज़त की नज़र में देखते हैं जैसे उनका काम ही काम हो। यह 'काम' सब बराबर हैं, और काम करने वाला, उससे भी बड़ा, क्योंकि वह 'स्रोत' और 'क्षेत्र' दोनों है। कर्म और कर्म करने वालों के प्रति आदर, श्रद्धा और चेतना में उसकी सहज स्वीकृति ही जीवन में वह 'परस्परता' ला सकती है जो एक दूसरे को अधिक सार्थक, सहज और रसमय जीवन जीन में कुछ अधिक सहायक शायद हो सकती है, वरना तो हम एक-दूसरे के लिये समस्या बनाते रहेंगे। ❑

परस्पर : युगबोध, ऐतिहासिकता और आधुनिकता

दयाकृष्ण और मुकुन्द लाठ (संवाद)

मुकुन्द जी : युगबोध की बात उठाता हूँ। आजकल बहुत उठती है। हम जो सोचते-समझते हैं, उसे हमारा विवेक न कह कर कुछ और नाम दे दीजिये। सवाल है, क्या उस विवेक का किसी काल विशेष से कोई अन्तरंग सम्बन्ध होता है या वह स्वतन्त्र होता है? आजकल माना जाता है कि काल से—युग से—सम्बद्ध युगबोध जैसा कोई बोध होता है जो हमसे अलग और हमारे साधारण बोध से ऊपर रह कर हमारे विवेक को संचालित करता है। न करे तो करना चाहिये।

दया जी : हमारे यहाँ युग शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। वैसे तो हमारे यहाँ चार युग माने गये हैं; पर यहाँ युग का जो भी अर्थ हो, वो अर्थ नहीं हो सकता जो आजकल है। कोई ये नहीं कहेगा कि आप कलियुग में सोच रहे हैं इसलिए आपका विचार कलियुग से प्रभावित है। आजकल युग का अर्थ कुछ अजीब सा है। उसका मतलब ये है कि हम जिससे प्रभावित हैं, उसी को युग का नाम दे देते हैं। अगर किसी में वह प्रभाव काम नहीं कर रहा है तो कह देते हैं कि वह युग में नहीं रहता। ऐसा युग शब्द का अर्थ नहीं है। ये केवल चलताऊ शब्द है। लोग प्रयोग करते हैं मगर बगैर विचार के करते हैं।

मुकुन्द जी : पर दया जी, अपने यहाँ चतुर्युग की जो धारणा है, वहाँ युग-विशेष का ये अर्थ है कि चेतना काल से प्रभावित होती है। सतयुग में वो काल हमारे बोध को, विचार को, कर्म को, भावना को एक विशेष रूप से संचालित करता है, हमारे चाहे-अनचाहे बिना। कलियुग में भी, दूसरी दिशा में, ऐसा ही करता है। दूसरे युगों में भी।

दया जी : इस बात के कुछ अलग-अलग अर्थ हैं। एक का सम्बन्ध सत्त्व, रज, तम इन गुणों से है। चेतना में किसी एक गुण का प्राधान्य हो सकता है। अगर गीता के 17वें और 18वें अध्याय को देखें तो बुद्धि का, ज्ञान का, हर बात का युगबोध या कालबोध से क्या सम्बन्ध है? यह